ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
RNI TITLED NO. UPBBIL04292
RNI REG. NO. UPBBIL/2014/66218 PP. NO.- 89-91
ISSN NO.-2347-2944
Vol.-7, No.-I, Issues-VIII YEAR- June-2017

मानवाधिकार संरक्षण में न्यायालयों की भूमिका

(भारत के विशेष सन्दर्भ में)

अयोध्या नाथ त्रिपाठी
एशोसियेट प्रोफेसर, उदितनारायण स्नातकोत्तर महाविद्यालय, पड़रौना, कुशीनगर (उ0प्र0) भारत

*मानवाधिकारों का प्रश्न आज अन्तर्राष्ट्रीय चर्चा का विषय है आज विश्व के अनेक देशों के निवासी बुनियादी अधिकारों से वंचित है। विश्व इतिहास में सबसे पहले संयुक्त राज्य अमरिका के संविधान द्वारा व्यक्ति के अधिकारों को स्वीकषति मिली। जॉन लांक की **Social Contract** की कल्पना ने इसे तर्क संगत रूप में प्रस्तुत करने में बहुत सहायता की फिर भी मानवाधिकारों का वास्तविक आधार मानव कल्याण में उन अधिकारों की महान उपयोगिता थी, न कि जॉन लॉक की **Social Contract** की कल्पना। यही कारण है कि जॉन लॉक के दार्शनिक सिद्धान्तों के सदियों पूर्व ढ़ह जाने के पश्चात् भी मूल अधिकारों में मानव की आस्था कम नहीं हुई[1]।*

जॉन लॉक की स्वतंत्र मानव की कल्पना के आधार पर एक ओर तो यह नैतिक तर्क दिया जाता था कि ऐसा मानव अपना हित अहित समझते में समर्थ होता है अतः उसकी संविदा की स्वतंत्रता में राज्य या अन्य किसी मानव को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए और दूसरी ओर यह संविदा, जिसके द्वारा ही स्वतंत्र मानव समाज और राज्य का सज्जन करता है, एक परम पवित्र वस्तु है जो कि सभ्यता का मूल आधार है और प्रत्येक मानव को अपनी संविदा का आदर करना चाहिए तथा संविदा की अवहेलना करने वालों को उसका पालन करने के लिए बाध्य करना राज्य का प्रमुख कर्तव्य है। संयुक्त राज्य अमरिका के उच्चतम न्यायालय द्वारा जोसेफ लोकनर बनाम पीपल आफ द स्टेट ऑफ नयूयार्क[2] 1905 तथा सी0 एडकिन्स बनाम चिल्ड्रन्स हास्पिटल ऑफ द डिस्ट्रिक्ट आफ कोलम्बिया[3] 1923 के मामले में यह निर्णय दिया गया कि नियोजक तथा कर्मचारी के बीच के सम्बन्ध उनकी स्वतंत्र संविदा के आधार पर निश्चित होने चाहिए तथा राज्य की इस संविदा की शर्तो या उसके उपबन्धों को अपनी ओर से दोनों पक्षकारों पर थोपना कर्मचारियों या मजदूरों को भी स्वतंत्रता के साथ अवांछनीय हस्तक्षेप है।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता का यह स्वरूप स0 राज्य अमरिका में बहुत दिनों तक स्वीकार नहीं रहा और विशेष रूप से सन् 1936–37 के पश्चात् स्वयं संयुक्त राज्य अमरिका के उच्चतम न्यायालय ने अपने पूर्व के निर्णयों को उलट कर राज्यों तथा केन्द्र की सरकारों की उद्योग, व्यापार तथा श्रम के मामलों में बहुत अधिक सीमा तक विधि द्वारा हस्तक्षेप करने की शक्तियों को स्वीकार किया। हैमिल्टन के अनुसार, न्यायाधीशों को ''विधायी अतिक्रमण के विरूद्ध सीमित संविधान की प्राचीर (bulwork of a limited constitution against legislative encrachment) कहा जाता है। पुनः यह अपेक्षा की जाती है कि न्यायालय ''विधियों का निर्वचन, संविधान की भावना के अनुरूप'' करेंगे। इस प्रकार न्यायालयों की सक्रिय भूमिका के विषय में बहस कोई नया नहीं है। न्यायिक सक्रियतावाद के समर्थकों के लिए बहस का केन्द्र बिन्दु यह नहीं है कि क्या न्यायाधीशों को विधि का निर्माण करना चाहिए तथा नीति के महत्वपूर्ण मुद्दों का विनिश्चय करना चाहिए अपितु इस बात को लेकर है कि उन्हें ऐसा कहाँ करना चाहिए, कब और उन्हें किस सीमा तक जानना चाहिए।[4]

भारतीय संविधान निर्माता इन नये मूल अधिकारों एवं राज्य की इन नई वाध्यताओं के प्रति जागरूक थे। संविधान सभा द्वारा स्थापित की गई सलाहकार समिति की मूल अधिकार सम्बन्धी उपसमिति की पहली रिपोर्ट में 3 अप्रैल, 1947 को इसके सभापति आचार्य जे0वी0 कृपलानी ने कहा था– ''हमने मूल अधिकारों को दो वर्गों में विभक्त करने का प्रयत्न किया है।

1– न्यायपालिका द्वारा प्रवर्तनीय अधिकार, अर्थात् वे अधिकार जो साधरणतया न्यायिक कार्यवाही द्वारा प्रवर्तित किये जा सकते है, और

2– न्यायपालिका द्वारा अप्रवर्तनीय अधिकार, अर्थात् वे अधिकार जो साधरणतया न्यायिक कार्यवाही द्वारा प्रवर्तित किये जाने के लिए अक्षम है या अनुपयुक्त है।[5]

संविधान निर्माण के अन्तिम स्वरूप में उपसमिति की रिपोर्ट के अध्याय 1 में प्रस्तावित मूल अधिकार ही संविधान के भाग 3 के मूलअधिकार हुए।

संविधान में मूलअधिकारों से सम्बन्धित उपबन्धों को अपनाने का उद्देश्य एक विधि शासत सरकार की स्थापना करना है न कि मनुष्यों द्वारा संचालित सरकार की– ''A Government of law and not of men'' अर्थात् ऐसी शासन व्यवस्था जिसमें बहुसंख्यक अल्पसंख्यकों का शोषण न कर सकें। मेनका गांधी बनाम भारत संघ के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने यह स्वीकार किया कि किसी अनुच्छेद में उल्लखित किये बिना भी कुछ अधिकार मूलअधिकार की श्रेणी में शामिल होगे, यदि उसकी प्रकृति मौलिक अधिकार की तरह है। जैसे अनुच्छेद 21 में विदेश भ्रमण, निःशुल्क विधिक

ASVS Society Reg. No. 561/2013-14

ISSN NO.-2347-2944
Vol.-7, No.-I, Issues-VIII YEAR- June-2017

सहायता, शीघ्रतर परीक्षण, मानव गरिमा, एकान्तता का अधिकार, आश्रम का अधिकार आदि मूल अधिकार माने गये।

न्यायालय जब अपना न्यायिक कार्य कर रहे होते है, चाहे लिखित संविधान को अर्थ प्रदान करने में या मानवाधिकारों सम्बन्धी विधानों को अर्थ प्रदान करने में या पूर्व निर्णयों (Precedents) को अर्थ प्रदान करने में तो न्यायिक विकल्प के काफी अवसर खुले रहते है और इस अवसर के प्रयोग में प्रत्येक न्याधीश को मानवाधिकार की अपेक्षाओं और अन्तर्वस्तु के क्षेत्र विस्तार की अपनी धारणाओं को निर्धारित करने का अवसर मिलता है।

मानवाधिकार संरक्षण के क्षेत्र में न्यायपालिका की भूमिका महत्वपूर्ण है न्यायालय अपने निर्णयों से एक तरफ विवादों का निपटारा करते है तो दूसरी तफर वे लोकमत को प्रभावित करने की सतत् प्रक्रिया में भागीदार बनते है संयुक्त राज्य अमरिका में लोकमत निर्माण की प्रक्रिया एक सतत प्रक्रिया है जिसमें कई भागीदार है– कांग्रेस, राष्ट्रपति, प्रेस, राजनीतिक पार्टिया, विद्वान और दववा गुर आदि। न्यायालय द्वारा समस्याओं की विवेचना और विस्तष्त घोषणा सामुदायिक अनुभव को एक महत्वपूर्ण तत्व है। जिसके द्वारा अमरिका नीति बनाती है।[6]

न्यायालयों या न्यायाधीशों की भूमिका वहॉ और भी महत्वपूर्ण हो जाती है जहॉ लोकतन्त्र में वैयक्तिक स्वतंत्रताओं सम्बन्धी सुसंगत विधि सुधारों के अत्यावश्यक कार्य पर ध्यान देने में विधायक असफल रहते है। अधिकारों का महत्व वहॉ और भी बढ़ जाता है जहॉ यह उनसे सम्बन्धित होता है जिन्हें हम अलोकप्रिय अल्पसंख्यक या हासिये का व्यक्ति (Marginal Person) कहते है जैसे– कैदी, मानसिक रोगी, औषधि पीड़ित एड्स रोगी या आपराधिक संदिग्ध व्यक्ति। सरकार के अंगों के अन्तर सम्बन्धों में जनतांत्रिक संस्थायें इन अल्पसंख्यकों की अवज्ञा कर सकती है या इन्हें भी दण्डित कर सकती है। ऐसे लोगों का सबसे सक्षम उपकरण न्यायपालिका है।

भारतीय संविधान सभी व्यक्तियों को प्राण तथा दैहिक स्वतंत्रता का संरक्षण प्रदान करता है यह व्यवस्था संविधान के अनुच्छेद 21 में प्रयुक्त ''दैहिक स्वतंत्रता'' पदावलि विस्तष्त अर्थ वाली पदावली हे और इस रूप में इसके अन्तर्गत दैहिक स्वतंत्रता के सभी आवश्यक तत्व शामिल है जो व्यक्ति को पूर्ण बनाने में सहायता है इस अर्थ में इस पदावली में अनुच्छेद 19 द्वारा प्रदत्त स्वतंत्रता के सभी अधिकार भी आ जाते है किन्तु प्रारम्भ में उच्चतम न्यायालय ने इस पदावली का बहुत संकुचित अर्थ लगाया था।[7]

अनुच्छेद–21 में प्रयुक्त पदावली ''विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया'' को गोपालन के बाद में ही उच्चतम न्यायालय ने ''विधि द्वारा अधिनियमित'' प्रक्रिया के रूप में और शब्द 'विधि' को ''राज्य निर्मित विधि'' के रूप में माना, नैसर्गिक न्याय (प्राकृतिक नयाय) के सिद्धान्तों के रूप में नही। जबकि न्यायमूर्ति फजल अली उपरोक्त विचारों से सहमत नहीं थे। मेनकागांधी वनाम भारत संघ[8] के मामले में उच्चतम न्यायालय ने अनुच्छेद–21 को एक नया आयाम दिया और अनुच्छेद–21 के क्षेत्र को विस्तृत बना दिया। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि 'प्राण' का अधिकार केवल भौतिक अस्तित्व तक ही सीमित नहीं है बल्कि इसमें मानव गरिमा को बनाये रखते हुए जीने का अधिकार भी शामिल है। उच्चतम न्यायालय ने यह भी अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद–21 में प्रयुक्त 'प्रक्रिया' का अर्थ कोई प्रक्रिया नहीं है बल्कि ऐसी प्रक्रिया है जो ऋजु, न्यायपूर्ण और युक्तियुक्त (Fair, Just and Reasonable) हो। युक्तियुक्तता का सिद्धान्त अनुच्छेद–14 का आवश्यक तत्व है।

सुनील बत्रा बनाम दिल्ली प्रशासन[9] के मामले में उच्चतम न्यायालय ने एकान्त कारावास के विरूद्ध अभियुक्त को संरक्षण प्रदान किया तो दूसरी तरफ राजगोपाल बनाम तमिलनाडु राज्य, मिस्टर एक्स बनाम हास्पिटल जेड के मामले में उच्चतम न्यायालय ने एकानतता के अधिकार को अनुच्छेद 21 के अन्तर्गत मूल अधिकार माना। न्यायालय ने कहा कि कोई भी किसी व्यक्ति के निजी जीवन में हस्तक्षेप नहीं कर सकता है। लेकिन यह अधिकार आत्यन्तिक (absolute) नहीं है। अर्थात् अपराध को रोकने, अव्यवस्था, स्वास्थ्य या नैतिकता का संरक्षण करने तथा दूसरे व्यक्ति की स्वतंत्रता और अधिकारों के संरक्षण के लिए निर्बन्धन लगाया जा सकता है। यम0एच0 होस्टकोट बनाम स्टेट आफ महाराष्ट्र, जाली जार्जवर्गीज बनाम बैक ऑफ कोचीन, रंजन द्विवेदी बनाम यूनियन ऑफ इण्डिया, ओल्गाटेलिस बनाम बाम्बे म्यूनिसिपल कार्पोरेशन आदि मामलों में उच्चतम न्यायालय ने अनुच्छेद 21 के अधीन जीवन एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकार के क्षेत्र को विस्तृत आधार प्रदान किया ओल्गाटेलिस बनाम बाम्बे म्यूनिसिपल कारपोरेशन[10] के मामले में स्पष्ट रूप से निर्धारित किया गया कि जीविकोपार्जन का अधिकार अनुच्छेद 21 के अन्तर्गत एक मूल अधिकार है। हालॉकि वह आत्यन्तिक (absolute) अधिकार नहीं है।

करतार सिंह बनाम स्टेट ऑफ पंजाब[11] के मामले में उच्चतम न्यायालय ने कहा कि किसी प्रक्रिया के ''सही न्यायोचित और ऋजु'' होने के लिए इसे नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों के अनुकूल होना चाहिए अर्थात् कार्यवाही में निष्पक्ष व्यवहार होना चाहिए।

ASVS Society Reg. No. 561/2013-14

इस प्रकार उच्चतम न्यायालय ने मानवाधिकार के संरक्षण के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ा। उच्चतम न्यायालय द्वारा अनुच्छेद 21 में प्रयुक्त पदावली का निर्वचन न केवल कार्यपालिकीय कार्यवाही के विरूद्ध संरक्षण प्रदान करता है अपितु व्यवस्थापिका के भी विरूद्ध। कोई भी विधि जो किसी को उसके मानवाधिकार से वंचित करती है वह अविधिमान्य होगी जब तक कि वह वंचन के लिए एक प्रक्रिया विहित नहीं करती और वह प्रक्रिया युक्तयुक्त, ऋजु और न्यायोचित न हो। इस प्रकार उच्चतम न्यायालय ने जीवन के अधिकार के क्षेत्र को विस्तृत कर दिया। उच्चतम न्यायालय ने 'जीवन के अधिकार' को गरिमा के साथ 'प्राण' का अधिकार माना है जिसके अन्तर्गत भोजन, स्वास्थ्य, आश्रम, शिक्षा नियेाजन (रोजगार) और सुरक्षित पर्यावरण का अधिकार शामिल है।

लोकहित वाद (Public Interest Litigation- PIL) :

संविधान का अनुच्छेद 32(2) उच्चतम न्यायालय को नागरिकों के मूल अधिकारों का सजग प्रहरी बना देता है इसके अन्तर्गत अब न्यायालय में 'लोकहित वाद' की अवधारणा की स्थापना की है जिसके माध्यम से कोई भी व्यक्ति या संस्था किसी ऐसे व्यक्ति के मूल अधिकारों की रक्षा के लिए, जो निर्धनता या किसी कारण वश न्यायालय जाने में असमर्थ है, न्यायालय में याचिका दायर कर सकता है। यही नहीं अब न्यायालय जनहित के अनेक मामलों में, जो कार्यपालिका और विधानमण्डल के कार्यक्षेत्र में है, हस्तक्षेप कर रहा है और सरकार तथा प्राधिकारियों को संविधान और अन्य कानूनों के तहत उनके कर्तव्य पालन करने के लिए विवश कर रहा है।

लोकहितवाद का सम्बन्ध किसी एक व्यक्ति के अधिकार से नहीं है अपितु एक वर्ग या लोगों के एक समूह के अधिकार से है जो शोषण, या उत्पीड़न के शिकार है या जिन्हें उनके सांविधानिक और विधिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया है। सक्रियतावाद में विश्वास करने वाले न्यायाधीशों ने यह विचार अभिव्यक्त किया कि हमारी वर्तमान न्यायिक व्यवस्था एक ''औपनिवेशिक पैत्रिक सम्पत्ति (Colonial legacy) थी जो हमारी अपने परिस्थितियों के उपर्युक्त नहीं थी। उन्होंने 'सुने जाने के अधिकार' की अवधारणा को विस्तृत किया और परम्परागत व्यक्तिवाद से हटकर लोकहितवाद को सामुदायिकता की ओर उन्मुख किया। ऐसा करके प्रक्रियात्मक औपचारिकताओं में छूट प्रदान की गई।[12]

उच्चतम न्यायालय ने बन्दियों, विचाराधीन कैदियों, कामगारों, बन्धुआ मजदूरों, महिलाओं, बच्चों तथा बहुतेरे अन्य को अनुतोष प्रदान किया। इस तरह न्यायालयों ने संविधान के अंगीभूत मूल अधिकारों के निर्वचन में सृजनात्मक और उद्देश्य परक दृष्टिकोण अपनाकर मानवाधिकार के विधिशास्त्र को समृद्ध किया। आज हम जिस आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिवेश में रह रहे है, उसमें मानवाधिकार के सम्बर्धन और संरक्षण के लिए न्यायाधीशों की ओर अधिक आस्था और विश्वास कर सकते है।

ASVS Society Reg. No. 561/2013-14

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1— प्रो0 पी0के0 त्रिपाठी : भारतीय संविधान के प्रमुख तत्व, विधि साहित्य प्रकाशन नई दिल्ली, पृ0 235.
2— (1905) 198 यू0एस0 45.
3— (1929) 261 यू0एस0 525.
4— माइकेल किरवी : रोल ऑफ जज इन एडवान्सिंग ह्यूमन राइट्स वाई रेफरेन्स टू इन्टरनेशनल ह्यूमन राइट्स नार्म्स'' जूडिसियल कोलोक्रियेम इन बंगलौर (24—26 फरवरी 1988), डेवलपिंग ह्यूमन राइट्स, जूरिसप्रूडेन्स, पृ0 77.
5— वी0 शिवराव : फ्रेमिंग ऑफ इण्डियाज कांस्ट्टियूशन भाग—2, पृ0 137.
6— इगन रोस्टोव : द डेमोक्रेटिव कैरेक्टर ऑफ जूडिसियल रिब्यू 66, हारवर्ड लॉ रिव्यू 193, 208 (1952).
7— ए0के0 गोपालन बनाम मद्रास राज्य, ए0आई0आर0, 1952, एस0सी0 27.
8— ए0आई0आर0, 1978, एस0सी0 597.
9— ए0आई0आर0, 1978, एस0सी0 1965.
10— ए0आई0आर0, 1986, एस0सी0 180
11— ए0आई0आर0, 1988, एस0सी0 1883.
12— उपेन्द्र बक्शी : द क्राइसिस ऑफ इण्डियन लीगल सिस्टम 1982, पृ0 48—63.

*****